साप्ताहिक
Live not just breaTHE

MPHIN/2015/63220
MP/IDC1528/16-18

दि कार्मिक पोस्ट

वर्ष : 6, अंक : 29 (प्रति बुधवार), इन्दौर, 10 मार्च से 16 मार्च 2021 पेज : 8 कीमत : 3 रुपये

इंसानी शोर से खतरे में है जीव-जंतुओं का अस्तित्व

यह तो सभी जानते हैं कि हमारे द्वारा किया जा रहा शोर हमारे लिए एक बड़ी आफत का सबब बनता जा रहा है। पर क्वीन्स यूनिवर्सिटी, बेलफास्ट के शोधकर्ताओं द्वारा किये गए अध्ययन के अनुसार इसके चलते अनेकों जीवों का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। शोधकर्ताओं के अनुसार ध्वनि प्रदूषण सभी तरह के जीवों जैसे पक्षियों, मछलियों, उभयचरों, स्तनधारियों और सरीसृपों सहित सभी प्रजातियों के व्यवहार को बदल रहा है।यह शोध रॉयल सोसाइटी के जर्नल बायोलॉजी लेटर्स में प्रकाशित हुआ है। क्वीन्स यूनिवर्सिटी के स्कूल ऑफ बायोलॉजिकल साइंसेज से जुड़े और इस अध्ययन के प्रमुख लेखक डॉ हंसजोर्ग कुन्क के अनुसार यह अध्ययन स्पष्ट तौर पर दर्शाता है कि ध्वनि प्रदूषण प्रजातियों के सभी सातों समूहों को प्रभावित करता है। प्रजातियों में भिन्नता होने के बावजूद शोर के प्रति उनकी प्रतिक्रिया में अंतर नहीं था।

आज मानव जल, थल और नभ हर जगह को अपने शोर से प्रदूषित कर रहा है। चाहे जमीन पर वाहनों से होने वाले शोर को देख लीजिये या उद्योगों की कर्कश ध्वनि को या फिर आसमान में उड़ने वाले जहाज को या फिर पाने में चलने वाले जहाजों को जिसके प्रोपेलर से होने वाले शोर से व्हेल्स पर पड़ने वाले असर को ही देख लीजिये। जिससे उनके सोनार पर असर पड़ रहा है और वे बड़े पैमाने पर अपने पथ से भटक रही है। और मौत के मुंह में जा रही हैं। शोधकर्ताओं के अनुसार शोर का असर केवल उन प्रजातियों पर ही नहीं पड़ रहा जो धवनि के प्रति संवेदी हैं, बल्कि इसका असर ज्यादातर प्रजातियों पर देखा गया है। डॉ कुन्क ने बताया कि इन सब में दिलचस्प बात यह रही की शोर का असर छोटे कीटों से लेकर व्हेल्स जैसे विशाल जीवों पर पड़ रहा है। शोध के अनुसार यह जरुरी नहीं कि जीवों पर इसका सीधा असर हो। और यह कहना भी आसान नहीं है कि प्रभाव सकारात्मक है या नकारात्मक, पर यह स्पष्ट की उनपर प्रभाव पड़ रहा है और यह उनके अस्तित्व से लेकर आबादी तक को प्रभावित कर रहा है। पक्षी, कीड़े और स्तनधारियों जैसी कई प्रजातियां ध्वनि संकेतों के माध्यम से बात करती हैं। ऐसा वह अपने साथी के चयन से लेकर एक दूसरे को आने वाले खतरे से अवगत कराने में करती हैं। पर यदि ध्वनि प्रदूषण से वह इस महत्वपूर्ण जानकारी को साझा नहीं कर पाएंगी तो यह उनके अस्तित्व को खतरे में डाल देगा । जहां ध्वनि प्रदूषण के चलते कुछ जीव अपने शिकारियों से नहीं बच पर रहे । वहीं इसके विपरीत यह कुछ जीवों के लिए अपना शिकार खोजना मुश्किल कर रहा है। उदाहरण के लिए चमगादड़ और उल्लू को ही ले लीजिये, उनके जैसे जीव संभावित शिकार को उनकी आवाज से पहचानते हैं। पर ध्वनि प्रदूषण उस आवाज को सुनने में दिक्कत पैदा कर रहा है और इसलिए उन्हें अपना शिकार खोजने और भोजन जुटाने में अधिक समय लग रहा है, जिससे इन प्रजातियों में गिरावट आ सकती है। जलीय दुनिया में मछली के लार्वा अपना घर रीफ्स द्वारा उत्सर्जित होने वाली ध्वनि की मदद से ढूंढ़ते हैं। समुद्र में जहाजों के कारण होने वाला ध्वनि प्रदूषण, लार्वा के लिए उपयुक्त घर ढूंढ़ने में कठिनाई पैदा कर रहा है, जिससे अनुपयुक्त रीफ्स के चुनाव के कारण उनका जीवनकाल घट सकता है। शोधकर्ताओं ने पाया कि ध्वनि प्रदूषण के कारण जानवरों के प्रवास पर भी व्यापक असर पड़ रहा है। कई पक्षी प्रवास के दौरान ध्वनि प्रदूषित क्षेत्रों में जाने से बचते हैं। इसके कारण अपने बच्चों को पालने के लिए यह पक्षी कम प्रदूषित क्षेत्रों की ओर प्रवास कर रहे हैं और वहां अपने बसेरे का निर्माण कर रहे हैं । इस तरह के प्रवास के कारण प्रजातियों के वितरण में असमानता आ रही है। यह परिवर्तन पारिस्थितिकी तंत्र के लिए हानिकारक हो सकता है क्योंकि प्रत्येक प्रजाति एक विशिष्ट पारिस्थितिकी तंत्र को बनाए रखने में एक महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। निष्कर्ष के रूप में डॉ कुन्क ने बताया कि ÷यह अध्ययन इस बात के पक्के सबूत देता है कि मानव द्वारा किये जा रहे ध्वनि प्रदूषण से पर्यावरण में व्यापक परिवर्तन आ रहा है7 यह प्रदूषण का एक गंभीर रूप है, जिसे वैश्विक स्तर पर देखा जाना चाहिए । अध्ययन से यह भी पता चलता है कि ध्वनि प्रदूषण किस तरह जलीय और स्थलीय प्रजातियों को प्रभावित कर रहा है। आज वैश्विक स्तर पर इसपर गंभीरता से विचार करने की जरुरत है, साथ ही जीवों को इससे बचाने के लिए एक व्यापक रणनीति बनाने की भी आवश्यकता है। (साभार)

मध्य प्रदेश में चार वेदर सिस्टम सक्रिय, इन हिस्सों में बारिश के आसार

भोपाल (एजेंसी) मध्य प्रदेश के कुछ हिस?सों में एक बार फिर मौसम का मिजाज बिगड़ने लगा है। मंगलवार को ग्वालियर-चंबल संभाग में गरज-चमक के साथ बारिश हुई। इस दौरान मुरैना जिले के कुछ हिस्सों में तो ओले भी गिरे। मौसम विज्ञानी मौसम में आई इस तब्दीली की वजह एक साथ सक्रिय चार वेदर सिस्टम को बता रहे हैं। इस तरह का मौसम 14 मार्च तक बना रह सकता है। इस दौरान ग्वालियर, चंबल, सागर, रीवा और जबलपुर संभाग में कहीं-कहीं बारिश के साथ ओले गिरने की भी संभावना है। वरिष्ठ मौसम विज्ञानी अजय शुक्ला ने बताया कि वर्तमान में एक पश्चिमी विक्षोभ पाकिस्तान और उससे लगे उत्तर भारत पर सक्रिय है। पश्चिमी विक्षोभ के प्रभाव से पश्चिमी राजस्थान पर एक प्रेरित चक्रवात बना हुआ है। इसी तरह पश्चिमी विदर्भ पर भी एक ऊपरी हवा का चक्रवात मौजूद है। उत्तर-भारत पर विपरीत दिशा की हवाओं (पूर्वी-पश्चिमी) का टकराव हो रहा है। इन चार सिस्टम के कारण हवाओं का रुख बदलने लगा है। हवाओं के साथ लगातार आ रही नमी से प्रदेश के कुछ हिस्सों में बादल छाने लगे हैं। तापमान बढ़ा हुआ रहने से गरज-चमक के साथ बारिश के आसार बढ़ गए हैं। मौसम विज्ञानी शुक्ला के मुताबिक वर्तमान में दिन के तापमान अभी इसी तरह बने रहने की संभावना है। हैं।

ट्रैफिक के शोर से पक्षी छोड़ रहे हैं गाना चहचहाना, प्रजनन पर भी पड़ा असर

नई दिल्ली। बढ़ते ध्वनि प्रदूषण से पक्षियों का जीवन बेहद प्रभावित हो रहा है। उनमें प्रजनन की शक्ति घट रही है और साथ ही उनके व्यवहार में भी परिवर्तन आ रहा है। हाल ही में जारी एक रिपोर्ट में यह जानकारी दी गई है। यह अध्ययन जर्मनी के मैक्स प्लैंक इंस्टीट्यूट फॉर ऑर्निथोलॉजी के शोधार्थियों ने किया है। उन्होंने जेबरा फिंच नाम के पक्षी पर अध्ययन किया और पाया कि ट्रैफिक के शोर से उनके रक्त में सामान्य ग्लकोकार्टिकोइड प्रोफाइल में कमी हुई और पक्षियों के बच्चों का आकार भी सामान्य चूजों से छोटा था। अध्ययन में दावा किया गया है कि ट्रैफिक के शोर की वजह से पक्षियों के गाने-चहचहाने पर भी फर्क पड़ता है।

यह अध्ययन कंजर्वेशन फिजियोलॉजी नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। अध्ययन में पक्षियों के दो समूह को शामिल किया गया। इनमें एक समूह वह था, जो जर्मनी के राज्य बावरिया की राजधानी म्युनिख के एक शोर भरे इलाके में रहता है, जबकि दूसरा समूह शांत इलाके में रहता है। यह अध्ययन पक्षियों के प्रजनन काल के दौरान किया गया। जारी रिपोर्ट में कहा गया है कि पहली प्रजनन अवधि के अंत के कुछ समय बाद दोनों समूहों के समान जोड़ो के लिए शोर की स्थिति बदल दी गई। शोधकर्ताओं ने दोनों परिस्थितियों में प्रजनन अवधि के दौरान, पहले और बाद में हार्मोन में तनाव के स्तर को दर्ज किया। इसके अलावा, उन्होंने (इम्यून फंक्शन) प्रतिरक्षा कार्य और प्रजनन की सफलता के साथ-साथ चूजों की वृद्धि दर को भी देखा। उन्होंने पाया कि जब वे शांत वातावरण में प्रजनन कर रहे थे, तब पक्षियों के खून में कॉर्टिकोस्टेरॉन का स्तर ट्रैफिक के शोर में प्रजनन कर रहे पक्षियों की तुलना में कम था। यह आश्चर्यजनक था क्योंकि तनाव अक्सर कॉर्टिकोस्टेरॉन के उच्च स्तर का परिणाम होता है, एक हार्मोन जो तनावपूर्ण अनुभवों के दौरान चयापचय क्रिया में शामिल होता है। प्रमुख अध्ययनकर्ता सू एनी जोलिंगर कहते हैं, शांत वातावरण में प्रजनन करने वाले पक्षियों में, प्रजनन के पूरे मौसम में उनका आधारभूत कॉर्टिकोस्टेरॉन कम रहता है। इससे पता चलता है कि जिन पक्षियों को शोर में रहने की आदत नहीं थी उनके प्रजनन चक्र के दौरान उनके हार्मोन का स्तर उपर-नीचे होता है अर्थात असामान्य पाया गया था। वहीं इसके विपरीत जो शांत वातावरण में इस प्रक्रिया से गुजरते हैं उनके हार्मोन का स्तर सामान्य पाया गया था। जिन चूजों के माता-पिता ट्रैफिक के शोर के संपर्क में थे, उनके चूजे शांत वातावरण में रहने वाले माता-पिता की तुलना में छोटे थे। हालांकि, एक बार शोरगुल की स्थिति में रह रहे चूजों के बड़े होकर घोंसला छोड़ देने के पश्चात, वे फिर शांत जगहों पर घोंसले बनाने में कामयाब रहते हैं। हालांकि, शोधकर्ता ने संतानों पर पड़ने वाले दीर्घकालिक प्रभावों को नहीं लिया है।

ऐसा इसलिए है क्योंकि पिछले एक अध्ययन से पता चला है कि ट्रैफ़िक के शोर के संपर्क से युवा ज़ेबरा फ़िंच पक्षी में टेलोमेयर क्षति में तेजी आई है, जिसका अर्थ है कि इन पक्षियों का जीवनकाल छोटा होने की आशंका है। हालांकि घोंसले में चूजों की संख्या पर यातायात के शोर का कोई प्रभाव नहीं था। पक्षियों के साथ अध्ययन आम तौर पर यातायात से जुड़े अन्य कारकों, जैसे कि रासायनिक प्रदूषण, प्रकाश प्रदूषण और शहरी क्षेत्रों में पाए जाने वाले अन्य भिन्नताओं को शामिल करने के लिए किया गया था, उदाहरण के लिए पक्षी समुदायों की संख्या और संरचना, निवास स्थान की संरचना, खाद्य प्रकार और उसकी उपलब्धता आदि थे। शोध समूह के मुख्य अध्ययनकर्ता हेनरिक ब्रम कहते हैं, हमारे आंकड़े बताते है कि शहरी परिवेश की अन्य सभी गड़बड़ियों के बिना यातायात (ट्रैफ़िक) का शोर, पक्षियों के शरीर क्रिया विज्ञान को बदल देता है और उनके विकास पर प्रभाव डालता है। इसका मतलब यह है कि पक्षियों की प्रजातियां जो पहली नज़र में शहरों में अच्छी तरह से मुकाबला करती दिखती हैं, ट्रैफ़िक के शोर से प्रभावित हो सकती हैं। (साभार)

पर्यावरण के लिहाज से कितना सही है आपका टूथब्रश, वैज्ञानिकों ने लगाया पता

हाल ही में ट्रिनिटी कॉलेज के शोधकर्ताओं ने यह जानने का प्रयास किया है कि पर्यावरण और स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से कौन सा टूथब्रश सही है। इसे समझने के लिए शोधकर्ताओं ने बाजार में उपलब्ध और सबसे अधिक इस्तेमाल होने वाले टूथब्रुशों के कई मॉडलों कि जांच की है। आपको जानकर हैरानी होगी कि ज्यादातर लोग मानते हैं कि बांस से बना टूथब्रश पर्यावरण के लिए ज्यादा बेहतर है जबकि ऐसा नहीं है वैज्ञानिकों के अनुसार रिसाइकल किए जाने योग्य प्लास्टिक का टूथब्रश सबसे बेहतर होता है।

स्वास्थ्य से जुड़े उपकरणों और टूल्स को देखें तो टूथब्रश दुनिया में सबसे ज्यादा इस्तेमाल किया जाता है, हालांकि इसका पर्यावरण पर क्या प्रभाव पड़ता है इस बारे में बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध है। यही वजह है कि यूनिवर्सिटी कॉलेज लंदन और ट्रिनिटी कॉलेज डबलिन द्वारा यह शोध किया गया है जोकि ब्रिटिश डेंटल जर्नल में प्रकाशित हुआ है। इस शोध में टूथब्रश के निर्माण से लेकर उसके अंत होने तक के पर्यावरण पर पड़ने वाले असर का मूल्यांकन किया गया है। स्वास्थ्य से जुड़ी सेवाओं, उपकरणों और सुविधाओं का पर्यावरण पर बड़ा व्यापक असर पड़ता है, इसके साथ ही यह स्वास्थ्य पर भी बुरा असर डालते हैं। हालांकि इसके बारे में बहुत ही कम लोग जानते हैं, यहां तक की इससे जुड़े उद्योगों को भी इसके बारे में बहुत कम जानकारी है। जिसका मुख्य कारण जागरूकता का आभाव है। इसके साथ ही विशिष्ट स्वास्थ्य देखभाल सम्बन्धी सेवाओं और उपकरणों कितने सस्टेनेबल हैं उसके बारे बहुत कम जानकारी और सबूत मौजूद हैं। इस शोध में शोधकर्ताओं ने टूथब्रश के असर को समझने के लिए विभिन्न मॉडलों और उनके पर्यावरण पर पड़ रहे असर (कार्बन फुटप्रिंट) और मानव स्वास्थ्य पर पड़ते प्रभाव (विकलांगता-समायोजित जीवन वर्षों) को मापा है। इस शोध में इलेक्ट्रिक टूथब्रश, आम प्लास्टिक टूथब्रश, प्लास्टिक टूथब्रश जिसके हेड को बदला जा सकता है और बांस के बने ब्रश का अध्ययन किया है। जिसके निष्कर्ष से पता चला है कि इलेक्ट्रिक टूथब्रश पर्यावरण के दृष्टिकोण से ज्यादा हानिकारक होता है। यदि इसके निर्माण की बात करें तो वो स्वास्थ्य पर भी व्यापक असर डालता है। यदि डिसेबिलिटी एडजस्टेड लाइफ ईयर के आधार पर देखें तो इसके निर्माण में लगे मजदूरों पर 10 घंटों की विकलांगता जितना असर डालता है जोकि सामान्य टूथब्रश से पांच गुना ज्यादा है। इस विश्लेषण से पता चला है कि प्लास्टिक के टूथब्रश जिनके हेड को मैन्युअली बदला जा सकता है और बांस के बने टूथब्रश का पर्यावरण पर पड़ने वाला प्रभाव पारंपरिक प्लास्टिक टूथब्रश और इलेक्ट्रिक टूथब्रश की तुलना में काफी कम होता है। शोधकर्ताओं को मानना है कि इस शोध से प्राप्त निष्कर्ष लोगों की सही टूथब्रश का चुनाव करने और स्वास्थ्य सम्बन्धी नीतियों को लागु करने में किया जा सकता है जिससे पर्यावरण और स्वास्थ्य पर पड़ रहे असर को सीमित किया जा सके।

(साभार)

किसकी रक्षा कर रहे हैं वन कानून और विभाग?

मुंबई (एजेंसी)। भारत में वन कानूनों का चरित्र मूलतः औपनिवेशिक था और है। वर्ष 1865 में ब्रितानिया हुकूमत द्वारा लिखित और लागू प्रथम वन क़ानून में वन संसाधनों के दोहन को वन प्रशासन का मूल दायित्व घोषित किए जाने के बाद खड़ा हुआ पूरा महकमा लगभग 156 बरस पुरानी रीतियों और नीतियों को आज भी ढो रहा है। आजा-पुरखा के जंगलों में जनमे आदिवासियों और परंपरागत वन निवासियों के कौम से उनकी अपनी भूमि और वन संसाधनों के मालिकाना हकों को छीनकर वन विभाग को जंगलों का थानेदार बना देना तब भले ही औपनिवेशिक हुकूमत का राजनैतिक-आर्थिक ध्येय रहा होगा, लेकिन 156 बरस बाद भी उसी चरित्र के साथ खड़े औपनिवेशिक वन-प्रशासन के वजूद पर आज तो सवाल खड़े किए ही जाने चाहिए।

मुंबई। यकीनन यदि वन विभाग बनाने का वैधानिक लक्ष्य हरित क्षेत्र का संरक्षण रहा होता तो सघन वनों के क्षेत्रफल में आखिर लगातार गिरावट क्यों जारी है? यदि वन विभाग का प्रशासनिक दायित्व वन भूमि की रक्षा थी/है तो लाखों हेक्टेयर वनभूमि के अधिग्रहण पर वो मौन क्यों हैं? यदि वन विभाग का वित्तीय दायित्व वन संसाधनों से अधिकाधिक राजस्व अर्जित करना है तो स्वयं विभाग द्वारा किये जाने वाले निर्वनीकरण पर वे आंखे क्यों मूंदे हुए हैं? और फिर यदि वन विभाग का नैतिक दायित्व समस्त जीवों की रक्षा है तो आदिवासियों के विरुद्ध विभाग के अमानवीय व्यवहारों के लिए आखिर ज़िम्मेदार कौन हैं? ज़ाहिर है, अक्सर कठिन सवालों के सरल जवाब नहीं होते। भारत में वनाधिकार कानून (2006) को लिखे जाने और लाये जाने और लागू किये जाने के जद्दोजहद में हुये आंदोलनों के संक्षिप्त इतिहास के बरअक्स इसे देखा-समझा जा सकता है। वर्ष 1927 के भारतीय वन अधिनियम की वैधानिक मंशा, समस्त वन संसाधनों को राजस्व के रूप में अपघटित किए जाने की थी/है। बाद के बरसों में वन प्रशासन के आक्रामक रवैये से लाखों आदिवासियों को वनग्रामों के नाम पर गुलाम बनाकर बेगारी के लिये मजबूर किये जाने की अनगिनत कथाओं में वन विभाग का औपनिवेशिक चरित्र समझा जा सकता है।

वास्तव में तत्कालीन औपनिवेशिक क़ानूनों के विरुद्ध अनेक आदिवासी नेतृत्व ने बगावत की थी। छत्तीसगढ़ के नगरी-सिहावा क्षेत्र (धमतरी) में वर्ष 1922-30 के जंगल सत्याग्रहों के दौरान आदिवासी समाज ने एकजुट होकर इसी बेगारी प्रथा को सार्वजनिक चुनौती दी, जिसके परिणामस्वरूप तत्कालीन वन प्रशासन को बेगारी प्रथा समाप्त करना पड़ी। लेकिन स्वाधीन भारत में वर्ष 1980 में भारतीय वन संरक्षण अधिनियम के नाम पर आदिवासी (और परंपरागत वन निवासी) तथा जंगल के मध्य जो लक्ष्मणरेखा खींच दी गई, उसके पीछे का आधा-अधूरा सच बरसों बाद ही बाहर आ पाया। दरअसल अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों के तथाकथित सरल ऋण के एवज में पूरे आदिवासी समाज को ही अतिक्रमणकर्ता मान लिए जाने के लिए नये सिरे से वैधानिक प्रावधान सुनिश्चित किए गए, वन्यजीव संरक्षण के नाम पर आदिवासियों को जंगलों से बलपूर्वक खदेड़ा गया। वनसंपदा के बंदरबाट के लिये संयुक्त और सामुदायिक वन प्रबंधन का प्रपंच रचा गया। और फिर इन सबका समग्र परिणाम यह रहा कि लगभग 80 लाख आदिवासियों को उनके अपने जंगलों से हमेशा के लिए जुदा कर दिया गया। छत्तीसगढ़ के गरियाबंद जिले में वर्ष 1983 में स्थापित उदंती अभ्यारण्य में छत्तीसगढ़ के राजकीय पशु - वनभैंसे के संरक्षण के लिए कई गांवों की जंगल और जमीन को चिन्हांकित किया गया। वनभैंसा विलुप्ति के कगार पर है, इसीलिये इसे इंटरनेशनल यूनियन फॉर कंज़र्वेशन ऑफ़ नेचर द्वारा बेहद संवेदनशील लाल-सूची में रखा गया है और जिनके संरक्षण को विशेष महत्व दिया गया है। बहरहाल, वन महकमे में वनभैंसों के संरक्षण के नाम पर नई योजनाए आईं, विभाग बने, नई नियुक्तियां हुईं, बजट बने और जंगल के मालिक कमार, भुंजिया और गोंड आदिवासियों को लाभार्थी का नया नाम दिया गया।

एक अनुमान के मुताबिक़ विगत 28 बरसों में उदन्ती अभ्यारण्य के नाम पर करोड़ों रुपए खर्च कर दिए गए। उदन्ती अभ्यारण्य संघर्ष समिति के टीकम सिंह नागवंशी कहते हैं कि वनभैंसे के संरक्षण के नाम पर विगत 38 बरसों से लगभग 17 गावों के हजारों लोगों के निस्तार के अधिकार को वन विभाग ने प्रतिबंधित कर रखा है, ऐसे में इस षड्यंत्र के लिए क्यों नहीं वन विभाग को कठघरे में खड़ा किया जाना चाहिए?

वन विभाग, मौजूदा वन क़ानूनों के नैतिक-राजनैतिक तर्कों और प्रशासनिक समीकरणों से अपने आपको निर्दोष साबित करने की कोशिश करता रहा है। जबकि वास्तविकता यह है कि सरकारी संस्थानों की बुनियाद पर टिके वन प्रशासन में स्थानीय समाज का स्थान हमेशा से दूसरे दर्जे का ही रहा है।

वर्ष 1996 के पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम और वनाधिकार क़ानून (2006) के संविधानसम्मत प्रावधानों में आदिवासियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों के अधिकारों को वैधानिक मान्यता दी गयी थी/है, उसे औपनिवेशिक भारतीय वन अधिनियम (1927) और भारतीय वन संरक्षण अधिनियम (1980) पर आधारित वन प्रशासन लगातार खारित करता रहा है।

यही कारण है इन वन क़ानूनों और उसके लाभार्थी -वन विभाग के पूर्वाग्रहों के चलते जंगलों के मालिक और संरक्षणकर्ता आदिवासी (और अन्य परंपरागत वनवासियों) को न्याय और अधिकार मिलना लगभग असंभव है।

पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम (1996) के आधे-अधूरे प्रशासनिक तंत्र और वनाधिकार क़ानून के क्रियान्वयन में वन प्रशासन की वांछित-अवांछित भागीदारी का ही परिणाम है कि आज ऐतिहासिक अन्याय से मुक्ति दिलाने के वैधानिक वायदों के डेढ़ दशक के बाद भी बहुसंख्यक आदिवासी समाज अपने अधिकारों के लिए आवेदकों की कतार में बेबस खड़ा है।

वर्ष 2002 में सर्वोच न्यायलय की टिप्पणियों के बाद वनों की क्षति के एवज में प्राप्त वित्तीय राशि के प्रबंधन और उपयोग हेतु क्षतिपूर्ति वनीकरण कोष प्रबंधन एवं योजना प्राधिकरण अधिनियम (कैम्पा क़ानून) लिखा और लागू किया गया।

प्रारंभ से ही यह विचार व्यक्त किया गया कि समाज से अधिग्रहित ज़मीन और जंगल के एवज में प्राप्त क्षतिपूर्ति राशि का अधिकार भी समाज का ही है और होना चाहिये। लेकिन कैम्पा क़ानून का तंत्र - औपनिवेशिक तर्कों के आधार पर गढ़ते हुए क्षतिपूर्ति राशि के नियोजन और नियामन का दायित्व वन विभाग को दे दिया गया।

पिछले दिनों छत्तीसगढ़ के वन विभाग द्वारा कैम्पा फण्ड का दुरूपयोग करते हुए अपने स्वयं के हितों की पूर्ति हेतु चौपहिया वाहन ख़रीद लिए गए। सत्य तो यह है कि ऐसी व्यवस्था में आदिवासी समाज के न्याय और अधिकार हमेशा सवालों के घेरे में बने रहेंगे।

आज वनों की रक्षा के लिये आदिवासी और वन विभाग दोनों ही अपने-अपने दावों और दायित्वों के साथ खड़े हैं। और जंगल बचाने की जिद में दोनों के मध्य उन क़ानूनों की स्थापित इबारतें हैं, जहां उन्हें एक दूसरे को सहयोगी नहीं, वरन प्रतिद्वंदी मानना जरूरी हो चला है।

वन विभाग और आदिवासी दोनों का परस्पर विश्वास इतना खंडित हो चुका है कि आदिवासी और वन विभाग दोनों एक दूसरे के बिना ही जंगल को एक दूसरे से बचाने आमने-सामने खड़े हैं।

वन विभाग का संदर्भ यदि औपनिवेशिक भारतीय वन अधिनियम 1927 है तो आदिवासी समाज की नई उम्मीद आजाद भारत का अपना लिखा नया वनाधिकार क़ानून 2006 है। जाहिर है नए द्वंद 'समुदाय केंद्रित वनाधिकार क़ानून' द्वारा स्थापित और मान्यता प्राप्त ग्रामतंत्र तथा 'प्रशासन केंद्रित भारतीय वन अधिनियम' द्वारा लादे गये रायतंत्र के मध्य गहराते फासलों के हैं।

आज राय व्यवस्था के समक्ष समाधान के अवसर सीमित और स्पष्ट हैं। जनतंत्र का बुनियादी उसूल कहता है कि वनाधिकार क़ानून के समाज केंद्रित व्यवस्था को, वैधानिक और प्रशासनिक सर्वोचता दी जाए। और ऐसा नहीं हो पाने का अवांछित घातक परिणाम होगा शेष जंगल और आदिवासी समाज को ऐतिहासिक अन्यायों के कठघरों में धकेल देना जहां मुक्ति का मार्ग समाप्त हो जाता है। आज आदिवासी समाज मुक्ति के मुहाने पर अपने मुट्ठी भर अधिकारों की उम्मीद में निहत्था खड़ा है।

(साभार)

फुकुशिमा परमाणु दुर्घटना के 10 साल के बाद कितना आया बदलाव

जापान। जापान में आए भूकंप, सुनामी और फुकुशिमा परमाणु ऊर्जा संयंत्र हादसे को 10 साल हो जाएंगे। जापान ऐसा देश है, जो परमाणु बम का पहला और अंतिम भुक्तभोगी रहा है। चर्नोबिल के बाद फुकुशिमा में दूसरे सबसे बड़े परमाणु हादसे का शिकार होने के बाद जापान में परमाणु ऊर्जा के प्रति फैला असंतोष पूरी दुनिया में फैल गया। दुर्भाग्य से दुनिया को परमाणु ऊर्जा की जानकारी तब मिली थी, जब अगस्त 1945 में जापान के ही हिरोशिमा और नागाशाकी शहरों में परमाणु बम गिराए गए। परमाणु बम ने दोनों शहरों को ध्वस्त कर दिया। जापान इस परमाणु हमले के दुष्परिणामों से अब भी नहीं उबर पाया है। हैरानी की बात यह है कि जापान ने अपनी ऊर्जा की जरूरतों को पूरा करने के लिए परमाणु ऊर्जा का ही सहारा लिया। 2011 में आए सुनामी से पहले जापान में 30 प्रतिशत बिजली का उत्पादन परमाणु संयंत्रों से होता था।

फुकुशिमा हादसे के बाद परमाणु ऊर्जा के प्रति दुनिया का नजरिया बदल गया। इसके बाद बहुत से देशों ने अपने महत्वपूर्ण परमाणु ऊर्जा कार्यक्रमों की समीक्षा की। जर्मनी और स्विट्जरलैंड जैसे देशों ने तो परमाणु ऊर्जा संयंत्रों को चरणबद्ध तरीके से खत्म करने की घोषणा की। हादसे के वक्त जापान में 54 परमाणु रिएक्टर थे। इनमें से 12 रिएक्टर स्थायी रूप से बंद कर दिए गए और 24 को बंद किया जा रहा है। यह ऐसे समय में हो रहा है, जब परमाणु ऊर्जा सेक्टर चर्नोबिल के हादसे से उबर रहा है और भारत सहित अधिक से अधिक देश ऊर्जा के इस वाहियात स्रोत को अपना रहे हैं। जापान अब भी तय नहीं कर पाया है कि वह अपने बंद पड़े परमाणु संयंत्रों को फिर से खोले या नहीं। हाल ही में ब्लूमबर्ग को दिए साक्षात्कार में फुकुशिमा परमाणु संयंत्र के संचालक व जापान की सबसे बड़ी यूटीलिटी कंपनी टेपको के अध्यक्ष टोमोआकी कोबायाकावा ने कहा कि परमाणु ऊर्जा के बिना देश 2030 तक कार्बन डाईऑक्साइड का उत्सर्जन आधा करने का लक्ष्य हासिल नहीं कर सकता। हालांकि दुनिया के लिए यह मानना मुश्किल है कि ऊर्जा की जरूरतों को पूरा करने के लिए परमाणु ऊर्जा संयंत्रों को फिर से शुरू करना आवश्यक है। इसे ऊर्जा का निर्णायक स्रोत भी नहीं माना जा सकता। परमाणु ऊर्जा हमेशा से ऊंची लागत, लंबी अवधि में परिणाम देने और सुरक्षा को लेकर अनिश्चितता के कारण संशय में रही है। एक के बाद एक आई आपदाओं ने इन आशंकाओं को प्रबल किया है। सौर और पवन ऊर्जा जैसे नवीकरणीय स्रोतों से भी महंगी परमाणु ऊर्जा की तुलना की जा रही है। 2018 में इंटरगवर्नमेंटल पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज (आईपीसीसी) ने कार्बन उत्सर्जन कम करने व वैश्विक तापमान को नियंत्रित करने में परमाणु ऊर्जा के योगदान को खारिज कर दिया था। आईपीसीसी ने चेताया था कि ÷जन स्वीकार्यता÷ एक ऐसी शर्त है जो इसके विस्तार में रोड़े अटका रही है। वर्तमान में परमाणु ऊर्जा क्षेत्र वैश्विक बिजली उत्पादन में अपने योगदान के लिए संघर्ष कर रहा है। उसके योगदान में वृद्धि नहीं हो रही है। 32 देशों के 414 परमाणु ऊर्जा संयंत्र कुल बिजली उत्पादन में केवल 10 प्रतिशत योगदान दे रहे हैं। जापान में लोग अब भी परमाणु ऊर्जा के खिलाफ प्रदर्शन कर रहे हैं। सुरक्षा की चिंताओं को लगातार दूर करने का प्रयास किया जा रहा है लेकिन इससे तकनीक भी महंगी हो रही है। गौर करने वाली बात है कि ऐसे प्रयास मुख्य रूप से उद्योग स्तर पर होते हैं। उन जनसामान्य की चिंताएं दूर नहीं की जातीं जो ऐसी आपदाओं के शिकार होते हैं। कोई भी देश सार्वजनिक रूप से परमाणु ऊर्जा की रणनीतियों पर बात नहीं करता, चाहे वे सैन्य हों अथवा नागरिक। इसके अलावा परमाणु संयंत्रों और इसमें इस्तेमाल होने वाले ईंधन यूरेनियम के खनन का स्थानीय समुदायों द्वारा विरोध किया जाता है। यही वजह है कि अधिकांश देश स्वच्छ ऊर्जा के स्रोतों पर निर्भर हो रहे हैं जो न केवल सस्ते हैं बल्कि बड़ी आबादी तक उनकी पहुंच भी है। परमाणु ऊर्जा ऐसी स्थिति में पहुंच गया है जहां से उसे उबारा नहीं जा सकता। (साभार)

संरक्षण से ही सम्भव है समाधान

नई दिल्ली। जीवन का पालना कहा जाने वाला पानी आज अपनी स्थिति आंसू बहा रहा है, क्योंकि पानी को लेकर हो रहे संघर्षों की ध्वनियाँ अब सुनाई देने लगी हैं। पिछले दिनों पानी के झगड़े को लेकर सहारनपुर के एक गांव में दंबगों ने दूसरे परिवार के पांच लोगों को मरणासन्न स्थिति में पहुंचा दिया था। पानी के निजीकरण का रोग विश्व के देशों को अपनी चपेट में लेने को आतुर है।

यही कारण है कि पानी का व्यापार करने वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों व विश्व निगमों के खिलाफ सामाजिक संगठन व किसान लामबंद होने लगे हैं। आज प्याऊ लगाकर पानी पिलाने वाली संस्कृति का देश भारत कैम्पर, बोतल, पाउच व टैंकर आदि माध्यम से पानी खरीद रहा है। सीधे हैण्डपम्प का पानी देश के किसी भी शहर या कस्बे में शायद ही कोई पी रहा हो। हालात गांवों में भी बदतर हो चले हैं, यहां भी पानी के कैम्पर व टैंकर ने अपनी जगह सुनिश्चित कर ली है तथा ये गांव में तेजी से पानी बाजार बना रहे हैं। गांवों में होने वाले शादी-विवाह में पानी की बोतलें पहुंच चुकी हैं। वर्तमान में पानी को संरक्षित करने के नए-नए तरीके सुझाए व अपनाएं जा रहे हैं। इसके बेतहाशा होते दुंउपयोग को रोकने के लिए लोगों को जागरूक किया जा रहा है। गोष्ठियों, सम्मेलनों, कार्यशालाओं, नुक्कड नाटकों, प्रदर्शनों, पोस्टरबाजी व नारेबाजी के जरिए पानी के प्रति जागृति लाने के प्रयास सरकारी व गैर-सरकारी दोनों स्तरों से लगातार जारी हैं। पानी पर इस जगत का हर एक प्राणी जीवित है। पानी सबके जीवन का आधार है। आज के सूचना क्रान्ति तकनीकि जगत में भी वैज्ञानिक जब किसी दूसरे ग्रह पर जीवन की संभावनाएं तलाश रहे हैं, तो सबसे पहले वहाँ पानी के स्रोत ढूंढ रहे हैं। अगर पानी के स्रोत नजर आएंगे तो किसी हद तक मान लिया जाएगा कि वहां जीवन की संभवानाएं हैं। पानी का होना इसलिए आवश्यक है क्योंकि पानी का काम पानी से ही चलेगा। मंगल ग्रह पर जीवन होने की कुछ संभावनाएँ जताई जा रही हैं, क्योंकि वहाँ बर्फ जमी बताई जाती है, हालांकि इसके बारे में अभी कोई ठोस जानकारी उपलब्ध नहीं है। हो सकता है कि मंगल कभी पानीदार रहा हो और वहाँ बसने वालों ने उसका भरपूर दोहन किया हो, जिस कारण से वहाँ पानी समाप्त हो गया हो। खैर, ये सब भूतकाल की बाते हैं जिनकी सच्चाई जानने व समझने में थोड़ा वक्त तो लगेगा ही। दूसरे ग्रहों पर पानी की यह तलाश कामयाब हो भी पाएगी या नहीं इस सवाल का जवाब भी भविष्य के गर्त में छिपा है। विचारणीय विषय यह है कि आखिर पृथ्वी पर पानी, कहां से आया? पृथ्वी पर पानी के इतने स्रोत कैसे उत्पन्न हो गए? कैसे पृथ्वी का 70 प्रतिशत भाग जलमय है? इन सब सवालों के जवाब तलाशने के लिए हमें पृथ्वी के अतीत में लौटना होगा। अतीत के संबंध में वैज्ञानिक दृष्टि ने कुछ ऐसा आंकलन किया है कि जब सूर्य से टूटकर एक आग का गोला अलग हुआ तो उसी को आगे चल कर पृथ्वी कहा गया। सूर्य से अलग हुआ यह टुकड़ा एक भभकता हुआ लाल रंग का शोला था। वायुमण्डल में उपस्थित हाइड्रोजन व ऑक्सीजन के अंशों ने आपस में क्रिया करके पानी का निर्माण किया और वह पानी उस आग के गोले पर आकर गिरा। जैसे ही आग पर पानी गिरा तो वह पानी वाष्प बनकर पुनः वायुमण्डल में चला गया। हाइड्रोजन व ऑक्सीजन के अंश पुनः क्रियाशील हुए और पानी बनते ही पृथ्वी पर गिरे तथा फिर वाष्प बनकर उड़ गए। यही क्रम लगातार तब तक चलता रहा जब तक पानी की पृथ्वी को शांत करने की जिद पूरी न हो गई और पृथ्वी शांत व खुशहाल न बन गई। पानी के बरसने का क्रम आज भी कुछ अवरोधों के बावजूद लगातार जारी है। पानी ने ही झीलें व नदियां बनाईं, समुन्द्र व पहाड़ बनाए, पानी के कारण ही ताल-तलैयों आदि जल स्रोतों का निर्माण हुआ। (साभार)

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक सोनल मेहता केलिए प्रतीक्षा ग्राफिक्स, 127 देवी अहिल्या मार्ग, इंदौर (म.प्र.) से मुद्रित एवं 209-बी शहनाई रेसीडेंसी-2 कनाड़िया रोड इंदौर (म.प्र.) से प्रकाशित। संपादक: डॉ. सोनल मेहता फोन : 0731-2595008 Mail.sonal12mehta@yahoo.co.in 9755040008